# सामाजिक सन्दर्भ में स्वास्थ्यविज्ञान और कीटाणुवाद

**देवर्षि कलानाथ शास्त्री**
(राष्ट्रपति सम्मानित विद्वान) पीठाचार्य, भाषामीमांसा एवं शास्त्र शोधपीठ
विश्वगुरुदीप आश्रम शोध संस्थान, जयपुर

**भारत** में अथर्ववेद के समय से आयुर्वेद विज्ञान का विकास आरंभ हुआ। बाद में वेश, गोत्र और रक्त की शुद्धता के सिद्धान्त पर अधिक जोर दिया जाने लगा। इस दृष्टि से '**अमेध्य**' (दूषित) और अस्वास्थ्यकर वस्तुओं के स्पर्श से बचने के नियम बनने लगे। धर्मसूत्रों के समय शव, अस्थियाँ, मलमूत्र आदि के स्पर्श से बचना उचित बतलाया गया। धीरे-धीरे इन्हें धार्मिक नियमों का रूप दे दिया गया और जिस प्रकार तार्किक पृष्ठभूमि पर आधारित दर्शनों और सिद्धान्तों के साथ हुआ करता है, बाद में उनका बौद्धिक पक्ष न समझने वाले लकीर के फकीरों ने उसे 'शब्द-प्रमाण' मानकर कट्टर और विकृत रूप प्रदान कर दिया हो तो उसमें आश्चर्य नहीं है, किन्तु प्रत्येक प्राचीन धर्मसूत्र और भाष्य में यह स्पष्ट किया गया है, कि जिन दूषित वस्तुओं का स्पर्श स्वास्थ्य के लिये अहितकर है उनके स्पर्श के बाद स्नान करना लाभदायक है।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि '**अस्पृश्यता**' की व्यवस्था में उनका दृष्टिकोण वर्गभेद या सामाजिक घृणा बिलकुल नहीं थी, अपितु ऐसा कार्य विशुद्ध वैज्ञानिक व्यवस्था पर आधारित था। इसका ज्वलंत प्रमाण है धर्म शास्त्रों का '**द्रव्य शुद्धि**' अध्याय जिसमें यह विवेचन है कि दूषित गन्ध या तत्व से युक्त द्रव्यों को व्यवहार्य बनाने के लिये उनकी शुद्धि कैसे की जाय। इस सम्बन्ध में '**अशुद्धि**' का जो वैज्ञानिक विवेचन किया गया है, उसे पढ़ कर यह आश्चर्य होना स्वाभाविक है, कि ये शास्त्रकार अनजाने ही कीटाणु सिद्धान्त के कितने निकट पहुँच गये थे। इन विवेचनों में जहाँ अशुद्धि के वाहक गंध और मल के नाश के उपाय बतलाये गये हैं - '**बैक्टीरिया**' या कीटाणु जैसे शब्द तो प्रयुक्त नहीं है, बाकी सारा विमर्श कीटाणु-सिद्धान्त का प्रवर्तक प्रतीत होता है।

धर्मशास्त्रों में शव, कुष्ठरोगी, रजस्वला, प्रसूता (जो सभी वर्गों और जातियों में होते हैं) इसी वैज्ञानिक आधार पर अस्पृश्य कहे गये। जिस प्रकार शव को अस्पृश्य माना गया और उसे जलाने का नियम बना, उसी आधार पर श्मशान में शवदाह करने वाले व्यक्ति को (जिसे चांडाल कहा जाता था और जो कार्य राजा

हरिशचन्द्र ने भी किया था) छू कर नहाना कुछ धर्मशास्त्रों में विहित किया गया होगा। यह उल्लेखनीय है कि चाण्डाल शब्द प्राचीन काल में श्मशानवासी शववाहक या वधिक (जो मुत्यु दंड पाने वालों को मारने का काम करता था) के लिये ही प्रयुक्त हुआ है, किसी वर्ग या जाति के लिये नहीं। इस कार्य में नियुक्त व्यक्ति अर्थात् चाण्डाल का स्पर्श निषिद्ध था । यहाँ उल्लेखनीय है कि इसके अतिरिक्त किसी भी अन्य कार्य करने वाले को अस्पृश्य मानने का कहीं भी उल्लेख नहीं है। चाण्डाल का उल्लेख भी प्राचीन प्रामाणिक स्मृति 'याज्ञवल्क्य स्मृति' में नहीं मिलता, केवल परवर्ती ग्रंथों में ही है। याज्ञवल्क्य केवल यह कहते हैं–

**उदक्याशुचिभिः स्नायात् संस्पृष्टस्तैरुपस्पृशेत्**

अर्थात **'रजस्वला स्त्री तथा अन्य दूषित वस्तुओं का संसर्ग होने पर स्नान करे।'**

गौतम धर्मसूत्र का वचन –

**पतित–चांडाल–सूतिकोदक्याशव–स्पृष्टि–तत्स्पृष्ट्युपस्पर्शने सचैलोदकोपस्पर्शनाच्छुध्येत्।**

तथा मनुस्मृति का वचन–

**दिवाकीर्तिमुदक्यां च पतितं सूतिकां तथा।**
**शवं तत्स्पृष्टिनं चैव स्पृष्ट्वा स्नानेन शुद्ध्यति। (५/८५)**

ये उल्लेख स्पष्ट कर देते हैं, कि जिनका स्पर्श करके स्नान करना विहित है, उन्हें किसी वर्गगत भेदभाव के कारण अस्पृश्य नहीं माना गया अपितु वैज्ञानिक कारणों से वैसा विधान किया गया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य भी यदि संक्रामक रोग से पीड़ित हों, माता, बहिन या पत्नी भी यदि रजस्वला या प्रसूता हो, कुछ निश्चित काल के लिये निर्धारित कारणों से अस्पृश्य कहे जा सकते थे। चूँकि वर्ण और जाति की व्यवस्था गुण और कर्म के आधार पर थी, जन्म से किसी के अस्पृश्य होने का प्रश्न वैसे भी नहीं था। छुआछूत के सिद्धान्त मध्यकाल में पनपे, विशेषकर विदेशी आक्रमणों के बाद।

## बौद्धिक ह्रास बनाम रूढ़िवाद

इस तर्कसंगत और वस्तुनिष्ठ सिद्धान्त का उद्देश्य मध्यकालीन ह्रासयुग में नहीं समझा गया और कट्टर पंथियों ने किसी वर्गविशेष को अस्पृश्य करार दे दिया, यह संभव है। किन्तु इसमें हिन्दू धर्मशास्त्र या आचार्य

दोषी नहीं हैं। विचारणीय है, कि विदेशियों के शासनकाल में रक्त की पवित्रता की दुहाई दे कर जाति प्रथा और उसके भेदोपभेदों को किस प्रकार कट्टर बना दिया गया था। अस्पृश्यता का सिद्धान्त बिजली के करंट के सिद्धान्त की तरह माना जाने लगा था, जिसके अनुसार यदि एक व्यक्ति अपवित्र हो जाये, तो उसे छूने वाले सभी व्यक्ति अपवित्र होते चले जा सकते थे। कुछ कपड़े अपवित्रता के संवाहक माने जाने लगे थे, जैसे सूती और कुछ पवित्र बने रहने वाले जैसे रेशमी और ऊनी, यह सब मध्यकालीन रूढ़िवाद से ग्रसित बौद्धिक ह्रास का करिश्मा था।

बीच में एक और प्रथा चल पड़ी थी, जो आज भी कहीं कहीं चल रही है। वेदों में क्षौर के बाद गरम पानी से स्नान करने का वर्णन मिलता है। इससे कुछ कट्टरपंथियों ने यह नियम निकाला कि नापित को छूने के बाद भी स्नान करना चाहिए। यदि कोई इस प्रकार की रूढ़ियों का मूलत: दोषी वेदों को बतलाने लगे, तो इसमें वेदों का क्या दोष ?

## युग-युग में समाज सुधार

स्पष्ट है, कि प्राचीन भारत में जाति या वर्ग के आधार पर किसी को अस्पृश्य नहीं माना जाता था। जातियों को वर्गभेद के आधार पर ऊँचा या नीचा मानने का भी कोई प्रश्न नहीं था। मध्यकालीन ह्रास युग में जब बुद्धिवाद की अपेक्षा रूढ़िवाद अधिक पनपा, तो कुछ विकृतियों का जन्म होना स्वाभाविक था किन्तु यह उल्लेखनीय है, कि भारत में जब जब इस प्रकार का बौद्धिक ह्रास हुआ है, विचारकों ने उसके विरुद्ध जनमानस बनाने का आन्दोलन भी साथ साथ शुरू किया है। जातिगत भेदभाव के चिन्ह देखते ही उसके विरुद्ध बुद्धिवादी विचारकों ने चेतावनी देना शुरू कर दिया था। गीता का वाक्य –

**विद्या-विनय-संपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।**
**शुनि चैव श्वपाके च पंडिता: समदर्शिन:।।**

इसी प्रकार के सामाजिक सुधार की एक चेतावनी थी। महाभारत के अनुशासन पर्व का १४७ वाँ अध्याय तो इसी बात पर लिखा गया है कि ब्राह्मण, शूद्र आदि वर्ण जन्म से नहीं अपितु सामाजिक कार्यो से प्रतिष्ठा या अप्रतिष्ठा अर्जित करके आदर या अनादर के पात्र होते हैं। पतित ब्राह्मण शूद्र और विद्वान् शूद्र ब्राह्मण ही होता है। भक्तिमार्ग स्वयं इसी सिद्धान्त पर आधारित है, कि जाति या विजाति एक सामाजिक इकाई नहीं है। उनका ध्येय था, कि कालान्तर में भक्ति ही सामाजिक एकता एवं समाजसंगठन का सूत्र बन जाए। यह एकीकरण की

प्रवृत्ति नारदभक्तिसूत्र और श्रीमद्भागवत के काल से ही परिलक्षित होती है।

**न यस्य जन्मकर्मभ्यां न वर्णाश्रमजातिभिः।**
**संजातेऽस्मिन्नहंभावो देहे वै स हरेः प्रियः।।( भागवत ११/११/२ )**

**भागवत में हरिजन**

'**हरि-प्रिय**' होना हर मनुष्य का अधिकार है। इसी सामाजिक एकता के सिद्धान्तों को रामानुज आदि भक्ति-मार्ग के आचार्यों ने कार्यरूप दिया। इसी श्लोक की भावना की अनुगूँज नरसी मेहता के 'वैष्णवजन तो तेने कहिये' में सुनी गयी और गांधी ने भी '**हरिजन**' नामकरण द्वारा उपेक्षित वर्ग को गौरव प्रदान किया।

स्वामी दयानन्द, विवेकानन्द, महर्षि अरविन्द, रानाडे आदि विद्वान् भी यह बात तर्कसंगत प्रमाणों के आधार पर कहते रहे। यह स्वाभाविक ही था। प्राचीन बौद्धिक एवं तार्किक समाज-व्यवस्था को वेदों एवं ब्राह्मणें ने जिस युक्तिवाद पर आधारित किया, उसे न समझ पाने वाले जन-साधारण को भक्तिमार्ग द्वारा भावनात्मक एकता की माला में गूँथने का प्रयास ही भविष्य में अधिक सफल होगा, ऐसा आचार्यों ने उस समय परख लिया था।

भारत की पुनर्जागृति के युग में स्वतंत्रता के आलोक की प्रतिष्ठा और मध्यकालीन रूढ़ियों तथा कुरीतियों की अस्वीकार्यता किस प्रकार संविधान के साक्षी बने, यह इस पीढ़ी के इतने निकट की वस्तु है, कि उस इतिहास को दोहराना अब आवश्यक नहीं।